गाँव की मौत

हिन्दी ADDA

अशोक मिश्र

गाँव की मौत

यह इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक का दूसरा साल था। रतन को आज कितने वर्ष हो गए अपना प्यारा गाँव छोड़े हुए। शहर की जिंदगी उसे कुछ ऐसी रास आई कि उसने

गाँव से नाता ही तोड़ दिया है। अब तो कभी-कभी किसी की मौत वगैरह पर ही गाँव जाना होता है। आज भी वह हड़बड़ी में जल्दी-जल्दी ऑफिस के लिए तैयार हो ही रहा था कि अचानक मोबाइल पिनपिनाने लगा। चिट्ठी अब बीते जमाने की बात थी और काले चोंगे वाले फोन का जमाना विदा ले रहा था और रिलायंस का मोबाइल युग शुरू हो चुका था यानी चिट्ठी की कीमत पर मोबाइल।

मोबाइल पर आ रहे छोटे चचेरे भाई के नाम ने उसके संपूर्ण अस्तित्व को झकझोर दिया और तुंरत किसी अनिष्ट की आशंका से हृदय दुगुने वेग से धड़कने लगा, क्योंकि अक्सर उसका फोन जब भी आता तो कुछ संयोग कि किसी की मौत की खबर लेकर ही आता। सच ही था कि उसकी सोच सही साबित हुई और फोन उठाते ही उधर से आवाज आई - 'भइया रात में बाबा नहीं रहे।' यह-कहते-कहते उसका गला भर आया। रतन के मुँह से सिर्फ इतना निकला कि ठीक है पहुँच रहा हूँ।

इसके बाद रतन तुरंत तैयार होकर ऑफिस के लिए चल दिया। ऑफिस पहुँचकर उसने अपने सेक्शन अधिकारी से बात कर अवकाश लिया और दोपहर की गाड़ी पकड़कर गाँव की ओर चल पड़ा। ट्रेन से उसके गाँव तक का सफर था।

ट्रेन पकड़कर अपनी सीट पर बैठने के बाद रतन सोचने लगा और गाँव में बिताया गया एक-एक दिन याद आने लगा। कितनी अजीब बात है कि गाँव अब किसी नाते-रिश्तेदार के मरने पर ही जाना होता है। आज यह गाँव कितना बूढ़ा, बेहार और उजड़ा-उजड़ा लगता है। गाँव को सँवारने में जिन्होंने अपनी जिंदगी बिता दी, उनकी मायूस आँखों में गाँव के उजड़ने का दुख है। इनमें से हर किसी के मरने पर थोड़ा-सा गाँव मर जाता है। आखिर ऐसा क्यों? यह सवाल रतन को बार-बार कचोटने लगा।

उसे अपने बचपन की उभरती धुँधली स्मृतियों में गाँव के बाग में लगने वाला स्कूल और किनारे बहने वाली नहर अक्सर याद आती। सरकारी स्कूल की इमारत इतनी जर्जर थी कि हेडमास्टर दुबेजी की हिम्मत उसके नीचे बच्चों को लेकर बैठने की न पड़ती और फिर स्कूल किसी पेड़ के नीचे चलता रहता। कभी-कभी समवेत स्वर से आती कुछ आवाजें जरूर बोलती कि अरे ये तो सरकारी प्राइमरी स्कूल है। कुछ इस तरह की आवाजें आतीं - दो का दो

दो दूना चार

दो तियां छह

दो चौके आठ

क्लास का एक बड़ा बच्चा पहले बोलता फिर सारे बच्चे समवेत स्वर में पहाड़ा दोहराते। यह पढ़ाई का सामूहिक तरीका था जिसमें गुरुजी लोग अकेले में बैठकर खेती बारी या अपनी घर गृहस्थी की चर्चा करते रहते और बच्चे शोरगुल मचाते रहते। कुल मिलाकर यह हर स्कूल की कहानी थी। कई बार तो बारिश के दौरा स्कूल हफ्तों बंद हो जाता था क्योंकि बाग में पानी भर जाता था। रतन की पढ़ाई की शुरुआत ऐसी ही एक प्राइमरी पाठशाला से हुई थी। इसके साथ ही उसके जेहन में बाबा का रोबदार चेहरा उभरने लगा : एकहरा शरीर, तिस पर आँखों के सामने घूमी हुई मूँछें। वह सोचने लगा कि बाबा कितना मानते थे हम सबको। हर एक सुख सुविधा का ख्याल रखते थे कि किसी को कोई असुविधा न हो।

दूर रहते हुए भी एक ठोस सत्य हमेशा पीछा करता है कि गाँव में पुश्तैनी मकान है, खेत हैं, बाग हैं। शहर में रहते हुए अपनी हैसियत में गाँव के खेत-बाग जोड़कर बताना अच्छा लगता है। आप कहाँ के रहने वाले हैं इस बात के उत्तर में गाँव का जिक्र जरूर आ आता है। आज उसी गाँव चल रहा है रतन जिसने उसे अपनी बाँहों में खिला-पिलाकर बकैंया चलने से लेकर नौजवान बनाया। इसी गाँव ने गुल्ली-डंडा खेलना सिखाया और फिर एक दिन बाँका सजीला नौजवान बना दिया। रतन को खुद के जवान होने का पता अपने शारीरिक विकास से कम बल्कि शादी के लिए दूसरे गाँव से लोगों की वरदेखाई के लिए आने वाली आवाजाही से हुआ। रतन को कई बार लगता कि गाँव की माटी-पानी और हवा उसके शरीर को ताकत के साथ-साथ संजीवनी देती रही है। उसने कई बार सोचा कि गाँव का कर्ज आखिर कैसे उतारे मगर यह सवाल हर बार जस का तस रह जाता। उसके बाद रोजी रोटी तलाशते शहर में नौकरी क्या मिली कि गाँव ही छूट गया। शहर आते ही वक्त का पहिया इतनी तेजी से घूमता कि दिन पहले हफ्ता और महीना पूरा होते हुए धीरे-धीरे साल देखते ही देखते ही बीत जाता। इसके साथ ही पिक्चर की भांति रतन की आँखों में एक-एक करके स्मृतियों के चित्र तैर रहे थे और वह दूर कहीं अपने गाँव की यादों में खोया था।

गाँव के नाम पर पंडितपुर के बारे में उसे अधिक कुछ भी याद न था। मजबूरी में लोग नदी, नाला, पहाड़ पार कर रहने योग्य तलाश कर बस गए। एक व्यक्ति को गाँव का मुखिया बना दिया और फिर उस गाँव का जैसा चाहा नाम रख दिया। यहाँ ब्राह्मण अधिक थे, इसलिए नाम पंडितपुर पड़ गया। तमाम अटपटे नामों के बीच पंडितपुर, मीरपुर ही ठीक था बाकी कटरौली, बरौली, निमैचा, तहसीनपुर, मगलसी आदि काफी अटपटे थे।

इसी गाँव को जन्म से लेकर जावान होने तक उसने बीस साल जिया था। इस गाँव के बाग-बगीचों और लोगों के साथ उसकी बचपन से जवान होने तक की यादें परत दर परत जेहन में जमी हुई थीं।

इसी के साथ रतन अपने स्टेशन सोहावल पहुँच गया। स्टेशन पर दो चचेरे भाई आए थे। उन लोगों ने बताया कि - भइया जल्दी चलो लोग शव यात्रा लेकर ढेमवाघाट पहुँच रहे हैं। रतन चुपचाप भाई की बाइक पर उचककर बैठ गया और कुछ देर बाद वह श्मशान भूमि में थे। श्मशान को देखकर उसे लगा कि मनुष्य का अंतिम शरण्य स्थल यही है। बाबा की चिता लकड़ियों पर रखी हुई थी जिसे रतन के पहुँचते ही ताऊजी ने मुखाग्नि दी और इसी के साथ लकड़ियों में चटखने की आवाज आनी शुरू हुई। धीरे-धीरे चिता पूरी रफ्तार में धू-धू कर जलने लगी जाहिर था कि बाबा को कुछ ही देर में देह से मुक्ति मिल जाने वाली थी जबकि आत्मा पहले ही शरीर छोड़कर जा चुकी थी।

चिता पूरी तरह जल जाने बाद मुर्दनी में आए लोगों ने नदी में स्नान किया और सभी हम सब भाई, ताऊजी, चाचाजी धीरे-धीरे थके हुए कदमों और बोझिल मन के साथ घर की ओर चल पड़े। कुछ लोग तो घाट से बाहर आते ही चाट के ठेलों और चाय की दुकानों पर अपनी क्षुधा शांत करने में लग गए। उसे एकबारगी देखकर लगा कि सच ही है कि भूख का मृत्यु से क्या संबंध... देखा जाए तो दोनों ही शाश्वत हैं। तभी तो तुलसी बाबा ने कहा है कि - 'तुलसी धन धाम शरीरै लै' रतन अब घर पहुँच गया था। पूरा घर भाँय-भाँय कर रहा था। चारों तरफ एक सन्नाटा सा पसरा था। वो आँखें न दिख रही थीं जो लपककर सीने से लगा लेतीं थीं और बड़ी आत्मीयता से बातें करती थीं। घर में सिर्फ कुछ गाँव की आस पड़ोस की महिलाएँ और दामाद दिख रहे थे। सब शांत और चुपचाप थे। ऐसा लग रहा था कि भरा पूरा घर निष्प्राण हो गया हो और काफी हद तक यह कटु सच भी था। रतन को बाबा के साथ बचपन में बिताए गए पल याद आ रहे थे। कई बार उसे ऐसा लगा कि बाबा बस घर के किसी कोने से उठकर आने ही वाले हैं।

रतन को याद आया कि बाबा का व्यक्तित्व बहुत ही शालीन था और वे काफी सामाजिक किस्म के जीव थे। वे जब गांधी टोपी लगाकर कुरता-धोती पहनकर और हाथ में छड़ी लेकर निकलते तो बाबा पाँयलागी के स्वर ही स्वर समवेत रूप से सुनाई देते। बाभन, ठाकुर, लाला, साहू, तेली, तमोली, यादव, कुर्मी, मुसलमान सब सभी उनका सम्मान मन से करते। यही वजह थी उनका चारों ओर काफी नाम और सरकारी महकमों में रोब-दाब था आखिर पुराने जमींदार खानदान के प्रतिनिधि जो

ठहरे। जाड़े के दिन हों या गर्मी बरसात, बाबा की चौपाल पूरे बारहोमास चला करती थी। बाबा को पूरा गाँव ही पक्कहा बाबा कहता था। गाँव में सबसे पहला पक्का मकान हम लोगों का था। जाड़े के दिनों में अलाव जलता और पानी-बीड़ी चाय चलती रहती। गाँव के लोग अपना दुख-दर्द बाबा को सुनाकर हल्का होते रहते थे। रतन को याद आता रहा है कि शादी-विवाह, मुंडन तथा कहीं-किसी भी प्रकार का उत्सव हो बाबा हर जगह उपस्थित रहते थे। हरेक की निजी समस्या तक को वे निपटाया करते थे। बाबा चौबीसों घंटे दूसरे के दुख-दर्द समस्याओं का हल खोजने में उलझे रहते। क्या मजाल कि कभी झल्ला जाएँ। जरूरतमंद गरीब गुरबा तबकों को मौका देखकर कर्ज भी देते रहते थे। होली, दीवाली पर हमारे घर पर पूरे गाँव का मेला लगता था। बाबा के साथ, मोलक सिंह और वसीम अहमद, रघुआ, अलगू चौधरी सब साथ ही बैठकर खाते थे। वे सबको ईश्वर का बंदा मानते थे, फिर यह परहेज और छुआछूत क्यों?

सरकारी महकमों के सभी अफसर गाँव आने पर पहले बाबा के पास आते। बाबा को अंग्रेजों से चिढ़ थी, इसलिए उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी थी। पुलिस वालों से बाबा कोई संबंध नहीं रखते थे या अपने यहाँ नहीं बुलाते थे, पता नहीं क्यों?

अपने गाँव मे उसने बचपन से ही यह देखा है कि हर मौसम, हर फसल, त्यौहार का एक बड़ा अलग तरीका रहा है। एक दूसरे को सहारा सहयोग देने की प्रवृत्ति, हँसी मजाक और ठहाके लगाने के क्षण रोम-रोम में बस गए थे। गाँव की नीरस और उबड़-खाबड़ मनोरंजन से दूर जिंदगी को उन्मुक्त तरीके से जीते थे लोग।

उसे याद आया कि दश की आजादी के साथ गाँव में विकास की लहर आ गई। शिक्षा का प्रसार हुआ। शिक्षितों की दो पीढ़ियाँ हैं। एक स्वतंत्रता पूर्व की और एक पश्चात की तथा तीसरी पीढ़ी इस समय की है जो या तो बेरोजगारी की यातना भोग रही है या फिर विद्यार्थी बनकर एमबीए, डबल एमए, पीएचडी कर रहे हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात पहली खेप के लोग अधिकतर ग्रामीण स्कूलों की मास्टरी में खप गए। उनके अंग-अंग में गाँव कहे संस्कार रच बस गए थे। थोड़ा बहुत गुजारे लायक आमदनी में भी काट-कपटकर दो पैसा बचाकर घाटे की खेतीबाड़ी करते रहे और अपने टूटे खंडहर घर को बनवाते रहे। घास-फूस छप्पर की जगह कच्चे पक्के मकान-घर पहले से ज्यादा आलीशन दिखने लगे। लोग साफ-सुथरे कपड़े पहनने लगे। बाजार साइकिल से आने जाने लगे। गाँव की एक कहावत आज के इस माहौल और इस युग मे भी बिल्कुल सही उतर रही है 'थोड़ा पढ़े तो हल से जाय, ज्यादा पढ़े तो घर से जाय' और कहीं न सहीं फिर भी अपने गाँव पर यह कहावत पूरी तरह से लागू है।

गाँव की दूसरी और तीसरी पीढ़ी के पाँव धरती और गाँव की मिट्टी से उखड़ चुके हैं। गाँव के हालात वैसे के वैसे हैं, बल्कि ज्यादातर तो पहले से बदतर है। उसने एक बात गाँव की नई पीढ़ी के संबंध में काफी गहरे अहसास के साथ नोट की कि वे एक तीसरी दुनिया के व्यक्ति हैं। ज्यादातर युवक किसी के नमस्कार तक नहीं करते और मान-सम्मान व बड़े-छोटे का लिहाज तो क्या। गाँव वाले हर कष्ट को एक होकर मिल-जुलकर बाँट लेते थे। शहर में पढ़ी-लिखी पीढ़ी उस सभ्य संस्कृति से कोसों दूर है। गाँव का जीवन स्तर ऊँचा उठाने के लिए सरकार ने जो भी प्रयास किया उससे अधिकारियों-दलालों का भला हुआ और उसका विकृत रूप सामने आया। राजनीति जो घर से बाहर तक है, उसने गाँव के प्रेम भाव वाले मधुरतापूर्ण सामाजिक जीवन में जहर घोल दिया। कलह-ईर्ष्या एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश व जलन जैसे भावों ने असुरक्षा का वातावरण बनाया। साफ जाहिर है कि गाँव में साथ-साथ मिल जुलकर रहने का वातावरण बनाया गया। आज तो गाँव ही बदल गया, गाँव की संस्कृति बदल गई है, जीने का तरीका बदल गया। गाँव में हालाँकि खुशहाली भी आई है घर-घर टीवी, बाइक्स औ ट्रैक्टर भी खड़े हैं। हर किसी के हाथ में मोबाइल है मगर रोजगार न के बराबर है। कुछ ने स्वरोजगार जरूर अपनाया है।

जाड़े के दिनों वाले अलाव ठंडे पड़ गए, फगुआ, लोकगीत, बिरहा, आल्हा, चैता शादियों में गाई जाने वाली गाली का रिवाज खत्म हो गया। अब तो कानफोड़ू, लाउडस्पीकर और डेक पर फिल्मी गीत बजते हैं, शेष पूरा गाँव किसी के घर दुख या खुशी के अलग-अलग बैलोस रहता है। जो लोग गाँव में बचे हुए हैं तो मजबूरीवश क्या करें और अब कहाँ जाएँ। अन्य कुछ लोग अपनी-अपनी सुख-सुविधाओं की दुनिया में दूर रच बस गए हैं। अब तो गाँव की पुरानी पीढ़ी के लिए यह गाँव लगता ही नहीं कि अपना है। उनका एक दर्द है जो अव्यक्त सा है।

शहरी सीमा से सटे इन गाँवों को शहरी संक्रमण ने बुरी तरह प्रदूषित कर रखा है। यह शहरी अपराधियों के छिपने का अड्डा, हाथियारों व विस्फोटकों सहेजकर रखने वाले स्टोर और देशी दारू के ठेकों को बाजार बन रहे हैं। गाँव के एक साथी ने कहा कि 'यह गाँव अब वर्णसंकर हो गया है। सांप्रदायिक सौहार्द, आपसी भाईचारा, सहकार और सह अस्तित्व की भावना से जीने का सलीका ही खो गया है। यह सारी बुराई शहर की संगत से आई है। कोढ़ में खाज साबित हो रहा है दो साल पहले गाँव के पुरवे के पास खुला देशी दारू का ठेका। इसी गाँव के एक बुजुर्ग बताते हैं कि शाम का धुंधलका छाते ही गाँव एक चौथाई आबादी नशे में धुत नजर आती है।' अजब नजारा होता है। कोई सुट्टे की सनक में, कोई अफीम की पिनक में, कोई भाँग की मस्ती में बौरिया रहा हैं

तो कोई गाँजे की झोंक में गिरा पड़ रहा है। अंगूर की बेटी के साथ शाम गुजारने पर आमादा लोगों की भीड़ दारू के अड्डे पर एक दूसरे का सिर फोड़ती और एक दूसरे पर पिली पड़ी दिखती है। रोज दो-चार को टाँके लगते हैं। इन सब को देश समाज और गाँव के हालात से कोई लेना देना नहीं। दो टैम का खाना, दारू और मेहरारू की टाँग में घुस जाना ही सबसे बड़ा जिंदगी का सुख लगता है।

शहर में नौकरी करने वाला दोस्त रूपनारायण जो इंटर तक साथ पढ़ा था, जब मिला तो बताने लगा कि पहले सिर्फ एक डॉक्टर की क्लीनिक थी, वह भी पड़ोस के गाँव में। अब गाँव में ही चार डॉक्टर हैं और दो मेडिकल स्टोर। फिर भी सबका धंधा अच्छा चल रहा है, क्योंकि बीमार पड़ने वालों की संख्या बढ़ गई है। कई लोग तो किसी बड़े डॉक्टर के साथ कुछ दिन कंपाउडरी सीखकर झोला छाप डॉक्टर बन गए हैं और साइकिल लेकर गाँव-गाँव चक्कर लगाते रहते हैं। खेती-बाड़ी कम होने, बागों मे कटने और कंक्रीट के जंगलों के करीब आते-जाते से शहर से गाँव का प्राकृतिक वातावरण नष्ट हो गया है। गाँव के तमाम लोग सब्जी, चाट बेचने, नाईगीरी, बढ़ईगीरी, मजदूरी और मिस्त्रीगीरी के काम में लगे हैं। कुछ लोगों ने पान की गुमटी रख ली है। कुछ नए धंधे के रूप में पनप चुके मोबाइल फोन का रिचार्ज कूपन बेच रहे हैं। कुछ ने हलवाईगीरी शुरू कर दी है, तो कुछ लोग शेयर खरीद बेंच रहे हैं। कुछ लोग तो सारा दिन चाय की दुकान पर बैठकर सूद पर रुपया बाँटते रहते हैं और गरीबों की मजदूरी का फायदा उठाकर महाजन बने हुए हैं। यह जरूरी नहीं कि हजामत बनाने वाला नाई हो, जूते गाँठने वाला रैदास। बढ़ईगीरी का काम करने वाले पंडितजी भी हो सकते हैं और हलवाईगीरी का काम करने वाला ठाकुर साहब। सच तो यह था कि सारे परंपरागत सामाजिक नियम टूट गए थे। अब जाति का पेशे से कोई संबंध न रह गया था। वास्तविकता तो यह है कि आज भी इस गाँव में बेरोजगारों की पूरी जमात है। ऐसे ही लोगों में से कुछ चोरी-चकारी में भी धरे जा चुके हैं। इसलिए एक के चलते पूरा गाँव बदनाम है।

गाँव के बुजुर्ग पंडित बाबा ने मिलने पर कहा बेटा - खेती-बाड़ी करके पहले हम अपना भी पेट पाल लेते थे और शहर का भी पेट भरते थे। अब जिंदगी जीने के लाले पड़े हैं। खेती गई, सो गई। कइयों ने शिकायती लहजे में कहा कि सड़क किनारे की काफी जमीन सरकार ने खरीद तो ली लेकिन मुआवजा नहीं दिया। कई गाँव वालों का मुआवजा कानूनी पचड़े में पड़ा है। कब मिलेगा, कोई उम्मीद नहीं। कई लोग तो इस झमेले को छोड़ दूर-दराज के गाँवों में अपने रिश्तेदारों के यहाँ जा चुके हैं, शरणार्थियों की शक्ल में।

चौपालों पर अब लोग नहीं जुटते। बरगद छाँव नहीं देते। रहट का शोर नहीं गूँजता। कोल्हू पर बच्चों की भीड़ नहीं लगती। नीम व पीपल के पेड़ों के नीचे कीर्तन मंडली और चौधरी के छप्पर के नीचे आल्हा-बिरहा गाने वालों का झुंड नजर नहीं आता। गाँव के लोग अब लोक संस्कृति को पिछड़ेपन की निशानी मानने लगे हैं। हर घर में टीवी हैं उसी में सीरियल देखते हुए सब मगन रहते हैं। चाय के स्टालों और पान की लकड़ीनुमा गुमटियों पर खड़े होकर राजनीति पर बहस करने लगे हैं। बहस करते-करते ये लोग जातीय गोलबंदियों और वोट बैंक का मतलब भी जान गए हैं। बात ही बात में लाठी कट्टा चल जाना और खूनखराबा हो जाना आम बात है। बाभन, ठाकुर, लाला और कुर्मी, यादव का दलितों से, वहीं रैदास का डोम से संवाद टूटता जा रहा है। संवाद टूट रहा है -इसलिए जातीय झगड़े और दंगा फसाद भी बढ़ रहे हैं। ये गाँव अब गाँव जैसे रहे नहीं और शहर इन्हें गोद लेने को तैयार नहीं। यथार्थ तो यह था कि गाँव की एक पूरी भीड़ कुंठित शहर और गाँवों के बीच त्रिशंकु की तरह लटकी है। उसका अमन-चैन शहरों की कृतिम चमक ने लूट लिया है।

किसी तरह तरह दिन बिताकर वह आज पुनः शहर की ओर लौट रहा था लगा कि अपना गाँव दूर छूट गया है। वह अपने प्रश्न का जैसे उत्तर तलाश रहा था। उसके गाँव गाँव का दर्द यही है कि शहर की भौतिकतावादी संस्कृति ने गाँव का धर्म बिगाड़ दिया है। गाँव की शक्ल थके-हारे बूढ़े जैसे हो गई है जो हर रोज क्षण-क्षण मर रहा है। फिलहाल रतन के गाँव का दर्द यही है। उसे पता नहीं कि दूसरों के गाँव का दर्द क्या है। वह हर बार गाँव से खुश होकर ऊर्जा से भरपूर ऊर्जा भरपूर होकर लौटता था, किंतु इस बार बाबा की मौत ने गाँव के दर्द को रू-ब-रू उसके सामने कर दिया था...। वह उत्तर तलाश रहा था।

https://www.hindiadda.com/gaanv-ki-maut/